राजा तथा *अरूप-रतन* : नाटक एक, संस्करण अनेक

रबींद्रनाथ के आध्यात्मिक नाटक

शरद देशपाण्डे

अनुवाद : बलराम शुक्ल

शंभु मित्र दिग्दर्शित 'राजा' के मंचन में रानी सुदर्शना की भूमिका में तृप्ति मित्र. (1964)

‘कला है मनुष्य की सृजनशील आत्मा के द्वारा विश्व-चेतना को दी गई भेंट’ — रबींद्रनाथ टैगोर[1]

एक तरह से देखें तो मनुष्य का सारा जीवन ही एक नाट्य है। लेकिन जीवन के वे कौन से हिस्से, या कौन से पहलू हैं जो नाट्यपूर्ण होते हैं, यह चर्चा का विषय है। यदि यथार्थवादी नाटक हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में आने वाले संघर्ष, उनमें व्याप्त विरोधाभास और व्यंग्य को प्रकट करते हैं तो अस्तित्ववादी नाटक जीवन की गूढ़ता, उसकी अतर्क्यता और निरर्थकता को उजागर करते हैं। लेकिन क्या जिसे आध्यात्मिक जीवन कहा जाता है उस जीवन में भी आने वाले अनुभवों में भी किसी नाट्य के छिपे होने की संभावना हो सकती है? सबसे पहला सवाल तो यह है कि भौतिक जीवन के ‘परे’ भी कुछ अलग आध्यात्मिक जीवन होता भी है या जिसे अध्यात्म कहते हैं वह भौतिक जीवन में ही कहीं ‘छिपा’ रहता है? भौतिक जीवन में

[1] रबींद्रनाथ टैगोर : *द रिलीजन ऑफ़ मैन* (विश्व भारती पुनर्मुद्रण 2008).

मिलने वाले सुख-दुःख और यश–अपयश के चौखटे के भीतर अटका हुआ मनुष्य जब संत तुकाराम के शब्दों में '*आपुलाची वाद आपणाशी*' (आत्मसंवाद) करने लगता है, स्वतः में ही 'स्व' की खोज करने लगता है तथा ऐहिक जीवन की सीमाएँ पार करने लगता है तब उस मुक्तियात्रा में भी एक ख़ास तरह का संघर्ष और नाट्य प्रकट होता है। व्यावहारिक संसार में छिपे होने पर भी बिना 'स्व' की खोज किए जिनका अनुभव नहीं हो सकता, ऐसे चिरंतन तत्त्वों के उदात्त सौंदर्य को रबींद्रनाथ अपने कुछ नाटकों में विषय बनाते हैं, जिसमें – *राजा अरूप-रतन*, तथा *शाप-मोचन* प्रमुख हैं।

'नाटककार रबींद्रनाथ टैगोर' : यह रबींद्रनाथ ठाकुर की बहु-आयामी प्रतिभा का एक महत्त्वपूर्ण परिचय है। 1881 से लेकर 1939 तक इन 58 वर्षों के कालखंड में रबींद्रनाथ ने कुल मिलाकर 61 नाटक लिखे। उनमें से कुछ नाटकों के मंचन में उन्होंने ख़ुद कई भूमिकाएँ भी कीं, कई बार कोरस में शामिल होकर गाने भी गाए, कई बार परदे के पीछे से संवाद भी याद दिलाए (प्रॉम्प्टिंग) और कई बार सूत्रधार की भूमिका भी निभाई। रबींद्रनाथ केवल नाटककार ही नहीं थे, वे रंगकर्मी भी थे, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कलकत्ता के जिस समृद्ध ठाकुर परिवार में उनका जन्म हुआ था, उस ब्रह्म-समाजी परिवार में धर्म-चर्चा तथा काव्य-शास्त्र-विनोद नित्य होते रहते थे। साथ ही यह परिवार नाट्यरसिक भी था। 1857 में रामनारायण तर्करत्न नामक पहले बंगाली नाटककार ने *कुलीन-कुलसर्वस्व* नामक नाटक लिखा था। 1867 में हिंदू स्त्रियों की दुर्दशा पर लिखित उनके नाटक का मंचन रबींद्रनाथ के 'जोड़ा-साकों' नाम से प्रसिद्ध पैतृक 'ठाकुर-बाड़ी' में हुआ और उनको ठाकुर–परिवार की ओर से दो सौ रुपये पुरस्कार में भी दिए गए थे। 'जोड़ा-साकों' में 'विद्वज्जन-समागम-सभा' नियमित रूप से आयोजित होती थी। इस सभा के मनोरंजन के लिए 1881 में अपनी उम्र के 19वें वर्ष में रबींद्रनाथ ने *वाल्मीकि प्रतिभा* नामक संगीत–नाटक लिखा था और उसमें प्रमुख भूमिका भी निभाई थी। इस अभिनय के समय बाबू बंकिमचंद्र चटर्जी भी उपस्थित थे। रबींद्रनाथ के भी पहले उनके भाई ज्योतिरीन्द्रनाथ ने नाटक लिखने की शुरुआत कर दी थी। दूसरों के लिखे नाटकों का अभिनय भी ठाकुर-बाड़ी में होता रहता था और रबींद्रनाथ उसमें भूमिका भी ग्रहण करते थे। घर के इस समृद्ध सांस्कृतिक वातावरण में उम्र के 18वें वर्ष में रबींद्रनाथ का नाट्यलेखन शुरू हुआ। 1886 में उन्होंने अपने ही लिखे हुए *वाल्मीकि-प्रतिभा* नामक संगीत–नाटक का पुनर्लेखन करके उसमें 1882 में लिखित *काल-मृगया* नामक संगीत–नाटक के कुछ अंश शामिल किए। एक बार लिखे हुए आलेख (स्क्रिप्ट) का अनेक बार और कभी-कभी तो काफ़ी समय बाद पुनर्लेखन करना; अपने लिखे दो अलग-अलग नाटकों का मिश्रण करके एक अलग संस्करण तैयार करना, यह रबींद्रनाथ के नाट्यलेखन की विशिष्टताएँ हैं। *प्रकृतेर-प्रतिशोध*, *नलिनी*, *मायार-खेला*, *राजा-ओ-रानी*, *तपती*, *विसर्जन*, *चित्रांगदा*, *राजा*, *अरूप-रतन*, *शापमोचन* और *नातीर-पूजा* ये पुनर्लेखन के बाद नये कलेवर में प्रस्तुत टैगोर के कुछ प्रसिद्ध नाटक हैं। कई बार नाटक के मंचन की मर्यादा

तथा तकनीकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए आलेख का पुनर्लेखन ज़रूरी हो जाता है। *राजा* नाटक को भी रबींद्रनाथ ने इसी तरह पुनर्लिखित किया है। परंतु ऐसी कोई अपरिहार्यता या दबाव न होने पर भी किए गए पुनर्लेखन की संगति कैसे लगाई जाए यह एक पहेली है। फ्रांसीसी दार्शनिक रोलाँ बार्थ की मानें तो आलेख का लेखन हो जाने के बाद उस पर लेखक का अधिकार समाप्त हो जाता है और उसके बाद उस पर आलेख का अर्थ लगाने वाले पाठक की सत्ता आरंभ हो जाती है। परंतु यह मत विवादास्पद है। वस्तुत: आलेख के पुनर्लेखन का तात्पर्य है उसका पुनर्जन्म। इस पुनर्जन्म को संभव बनाने के लिए आलेख के पात्र और उसके जन्मदाता लेखक इन दोनों का जीवंत संबंध, सतत संवाद तथा एक दूसरे को ठीक से समझना आवश्यक होता है, यह मानना पड़ेगा। इस प्रकार के पुनर्लेखन में आलेख की आत्मा वही होती है, लेकिन उसका परिवेश भिन्न हो जाता है, रबींद्रनाथ के पुनर्लेखन के पीछे संभवत: यही सूत्र काम करता है।

रबींद्रनाथ के नाटकों में प्रतीकों की भरमार होती है। इस कारण उनकी आलोचना होती है कि उनमें मानवीय प्रवृत्ति, भावना और दैनंदिन जीवन के संघर्ष कहीं खो जाते हैं। यह आलोचना नाट्य लेखन के तकनीकी पक्ष को लेकर होती है लेकिन विचारणीय बात यह है कि रबींद्रनाथ को जो कहना होता है उसके लिए प्रतीकों का उपयोग आवश्यक है कि नहीं। पाश्चात्य विश्व के आधुनिक मूल्यों तथा उसकी जीवन-दृष्टि को कवि और नाटककार रबींद्रनाथ ने स्वीकार तो किया था लेकिन उनकी आत्मा तो पूर्णतः भारतीय ही थी। इसकी छाप उनके नाटकों में साफ़ दिखाई पड़ती है। रबींद्रनाथ की आध्यात्मिक दृष्टि *ईशोपनिषद* तथा बौद्ध दर्शन से प्रभावित थी। इस नाते *रूप* तथा *अरूप*, *मूर्त* तथा *अमूर्त*, *व्यावहारिक* तथा *पारमार्थिक* इन भेदों की परिभाषा तथा इनकी संगति करने वाले चिंतन को उन्होंने आत्मसात किया है। इन भेदों के बीच जो एक आंतरिक तनाव है उसमें छिपे नाट्य को रबींद्रनाथ एक नाटककार के नाते दिखाना चाहते हैं। दूसरी ओर एक दार्शनिक-कवि होने के नाते उन्हें इन भेदों पर अपना कुछ भाष्य भी करना है। यह है रबींद्रनाथ की विशिष्टता! कवि रबींद्रनाथ सौंदर्य के उपासक हैं। उनकी धारणा है कि यह चराचर जगत सुंदर है। लेकिन वस्तु का केवल बाहरी रूप ही सुंदर नहीं होता, बल्कि व्यावहारिक संसार के 'परे' होनेवाला या व्यावहारिक संसार के अंतरंग में ही 'छिपा' अमूर्त चिरंतन तत्त्व वस्तुतः सुंदर होता है – यह रबींद्रनाथ की दार्शनिक दृष्टि है। इस चिरंतन तत्त्व के सौंदर्य को व्यवहार की भाषा में उकेरना सरल नहीं है। इसका अनुभव प्रतीकों की सहायता से ही हो सकता है। इसी कारण रबींद्रनाथ ने प्रतीक नाटक की विधा को चुना।

रबींद्रनाथ का प्रतीक – प्रधान नाटक *राजा* भरतमुनि के *नाट्यशास्त्र* की परंपरा के अनुसार ही है। नाट्य सिद्धांतों के अनुसार *नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्* अर्थात् नाटक को किसी प्रसिद्ध कथा पर आधारित होना चाहिए। इस सिद्धांत के अनुरूप होते हुए भी नाटक की प्रस्तुति शैली लोक कलाओं के अनुरूप है। इस नाटक में आने वाले ठाकुर दा नामक पात्र को बंगाल की

बाउल परंपरा का प्रतिनिधि माना जा सकता है। *राजा* नाटक की कहानी नेपाल में विकसित संस्कृत तथा पालि बौद्ध *जातक* और *महावस्तु-अवदान* साहित्य में प्राप्त राजा कुश की कथा पर बुनी गई है, ऐसी मान्यता है। कुश जातक की मूल कथा कुछ इस प्रकार है। वाराणसी के राजा सुबंधु और उनकी रानी अलिंद का पुत्र कुश जितना बुद्धिमान और कलानिपुण था उतना ही कुरूप भी था। उसका विवाह कान्यकुब्ज के राजा महेंद्रक की राजकुमारी सुदर्शना के साथ हुआ था। सुदर्शना बहुत ही सुंदर थी लेकिन विवाह करते समय उसे यह पता नहीं था कि राजा कुश कुरूप है। यह रहस्य गुप्त रहे इसलिए राजपरिवार की परंपरा बताकर कुश तथा सुदर्शना को उस अँधेरे कमरे में रखा जाता है जहाँ प्रकाश नहीं आ सकता। उन दोनों का मिलन भी उसी अँधेरे कमरे में होता है। सुदर्शना में यह जानने की उत्कंठा दुर्निवार हो चलती है कि उसका पति प्रत्यक्ष कैसा दिखता होगा। तब रानी अलिंद अपने सौत के बेटे सुवर्ण को कुश कहकर सुदर्शना से मिलवाती है जो सुंदर तो है लेकिन साथ ही महामूर्ख भी है। जब सुदर्शना जान जाती है कि राजा कुश देखने में बहुत कुरूप है तब वह रूठकर अपने मायके चली जाती है। कुछ समय बाद राजा कुश सुदर्शना के मायके जाकर विभिन्न प्रयत्नों से उसका मन जीतता है। राजा कुश को सुदर्शना कभी प्रकाश में नहीं देख सकती थी, उनका मिलन केवल अँधेरे में ही होता था लेकिन जब सुदर्शना राजा के गुणों के बारे में जान पाती है तब उसे समझ में आ जाता है कि उसके आंतरिक गुणों का सौंदर्य उसके बाह्य रूप की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है। कुश जातक की कथा का सार यही है। मूल जातक में कुछ दूसरे प्रसंग भी हैं। जिस प्रकार सारी जातक कथाएँ भगवान बुद्ध पूर्वजन्म में कौन थे, यह कहकर समाप्त होती हैं, उसी प्रकार कुश जातक के अंत में भी भगवान बुद्ध अपने शिष्यों से ऐसा कहते दिखाए गए हैं – 'मैं ही वह राजा कुश था और सुदर्शना यशोधरा थी'। पौराणिक कथाओं के पात्र कालातीत होते हैं। इस कथा के पात्र भी कालातीत हैं, इसीलिए वे आज के समय में भी संगत हैं। उनके प्रश्न तथा उनके जीवन के तनाव आधुनिक मन को भी भा जाते हैं।

कुश जातक की रानी सुदर्शना के चरित्र को तो रबींद्रनाथ ने वैसे का वैसा रख छोड़ा है लेकिन उसके साथ उन्होंने उसकी एक दासी का एक चरित्र गढ़ा है। उसका नाम है सुरंगमा। इन दोनों के अतिरिक्त राजा के सैनिक, पहरेदार, प्रजा, उत्सव के लिए दूसरे राज्य से आई हुई कुछ राजकुमारियाँ और नागरिक, कुश राजा का स्वाँग रचाने वाला पात्र, इन सब की पार्श्वभूमि रबींद्रनाथ ने खड़ी की है। सुदर्शना तथा सुरंगमा, राजा और सुदर्शना, उसी प्रकार दूसरे पात्रों के आपसी संवादों में राजा का न दिखने वाला अदृश्य पात्र, ये सब भी रबींद्रनाथ ने खड़े किए हैं। सुदर्शना को कभी भी नहीं दिखने वाला राजा, सुरंगमा द्वारा किए गए वर्णनों, उसके कारण सुदर्शना की बढ़ती उत्कंठा, राजा के साथ उसका केवल अँधेरे में ही होने वाला संभाषण, सैनिक, पहरेदार, दूसरे देश से आए हुए नागरिक, राजा के बारे में उनके आपसी संवाद और अंत में राजा में निहित वास्तविक सौंदर्य की सुदर्शना को होने वाली अनुभूति, इन सबमें बसी हुई नाटकीयता को रबींद्रनाथ की प्रतिभा ने जीवंत कर दिया है। राजा दिखता तो नहीं लेकिन

शंभु मित्र दिग्दर्शित राजा के मंचन में ठाकुर-दा की भूमिका में कुमार रॉय और अन्य नागरिक
छायाचित्र *बहुरूपी* (कोलकाता, 2008, सं. स्वपन मजुमदार) संग्रह से साभार

उसके बारे में नाटक का हर पात्र कुछ न कुछ कहता है, सूचना देता है, और अपने विचार रखता है। राजा के बारे में यह सारी बातचीत भिन्न-भिन्न स्तरों पर हो रही है – इसीलिए प्रत्येक पात्र के द्वारा किए जाने वाले संवादों के अर्थ विविध प्रकार से लिए जा सकते हैं। अदृश्य तथा कुरूप राजा जिस प्रकार एक प्रतीकात्मक पात्र है वैसे ही जिस 'अँधेरे कमरे' में कुश और सुदर्शना का मिलन होता है वह अँधेरा कमरा भी अथवा उस कमरे का 'अँधेरा' भी नाटक का एक प्रतीकात्मक पात्र है। उसकी भूमिका भी इस नाटक में महत्त्वपूर्ण है। अज्ञान, माया, असत्य तथा मृत्यु इन सबको बताने के लिए अनेक संस्कृतियों में अँधेरे के प्रतीक के रूप में प्रयोग किया गया है। 375 ईसा पूर्व के यूनानी दार्शनिक प्लेटो द्वारा रचित उनके गुरु सुकरात और सुकरात के शिष्य ग्लॉकन के बीच हुए काल्पनिक संवाद[2] में दिया हुआ 'गुफा' का प्रतीक

[2] प्लेटो : *रिपब्लिक*, बुक vii.

पाश्चात्य दर्शन में सुप्रसिद्ध है। यह प्रतीक कुछ इस प्रकार है : किसी गुफा के अँधेरे में कुछ ग़ुलाम बचपन से ही इस तरह ज़ंजीरों में बँधे हुए हैं कि वे पीछे मुड़कर गुफा के बाहर नहीं देख सकते। गुफा के बाहर आग जल रही है और गुफा में स्थित ग़ुलाम और आग की लपटों के बीच कुछ लोग ऐसे हैं जिनके हाथ में कुछ वस्तुएँ तथा मूर्तियाँ हैं जिसे वे हिला रहे हैं। उन सब की परछाइयाँ ग़ुलामों के सामने वाली दीवाल पर पड़ रही हैं। गुफा में बँधे ग़ुलाम सिर्फ़ उन परछाइयों को ही देख पा रहे हैं और उन्हें ही सच्चाई समझ रहे हैं। लेकिन एक ग़ुलाम ज़ंजीरों से छूटकर गुफा के बाहर आता है और जब बाहर के उजाले में लपटों के नाते गुफा में पड़ने वाली वस्तुओं की परछाइयाँ देखता है तब उसे वस्तुएँ और उनकी परछाइयों के बीच का अंतर ज्ञात हो जाता है। शाश्वत ज्ञान तथा 'स्व' का रूप जानने के लिए प्लेटो के ग़ुलामों को गुफा के अज्ञानरूपी अंधकार से निकलकर गुफा के बाहर ज्ञानरूपी प्रकाश में आना पड़ता है। अंधकार में तो कुछ दिखता नहीं लेकिन उजाले में सब कुछ साफ़ दिखाई देता है, यह एक सामान्य अनुभव है। प्लेटो का रूपक इसी भेद पर आधारित है। लेकिन रबींद्रनाथ के नाटक में तो राजा प्रकाश में होते हुए भी दिखाई नहीं पड़ता है। इसी नाते अँधेरे कमरे के बाहर आने पर भी सुदर्शना राजा को देख नहीं पाती। उसे देखने के लिए अंधकार तथा प्रकाश के जिस द्वैत ने दृश्य संसार को सीमित किया है उसे पार करने के लिए सुदर्शना को ख़ुद के साथ लड़ना पड़ता है। इस लड़ाई में होनेवाली आंतरिक वेदना और संघर्ष को रबींद्रनाथ ने सुदर्शना के चरित्र से दर्शाया है। इस नाते, प्लेटो के *सूर्य देखा हुआ मनुष्य*[3] की अपेक्षा रबींद्रनाथ की कल्पना से उपजी – अँधेरे कमरे में राजा को न देख पाने वाली रानी सुदर्शना और प्रकाश में आती-जाती होकर भी राजा के बारे में कुछ भी न बता सकने वाली दासी सुरंगमा – ये दोनों ही चरित्र अधिक गंभीर और प्रगल्भ व्यक्तित्व के रूप में उभरकर हमारे सामने उपस्थित होते हैं। यह अर्थ-संपन्नता रबींद्रनाथ की कविता और उनके नाट्य लेखन का उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है।

शांतिनिकेतन में छात्रों को मंचन के लिए एक नया नाटक चाहिए था। इसके लिए रबींद्रनाथ ने *राजा* नामक इस नाटक को 1910 में लिखा था। इसका पहला मंचन 15 मार्च, 1911 में शांतिनिकेतन में ही हुआ। उसमें ठाकुर दा वाली भूमिका स्वयं रबींद्रनाथ ने निभाई थी। रबींद्रनाथ के 50 वें जन्मदिन पर इस नाटक का एक बार फिर मंचन शांतिनिकेतन में ही 7 मई, 1911 के दिन किया गया। इस मंचन के दौरान श्रीमती सीतादेवी भी उपस्थित थीं। वे साहित्य को समर्पित *प्रबाशी* मासिक पत्रिका के संपादक रामानंद चट्टोपाध्याय की पुत्री थीं। रबींद्रनाथ इस मासिक पत्रिका में नियमित रूप से लिखते थे। उनका प्रसिद्ध उपन्यास *गोरा प्रबाशी* में ही क्रमिक रूप से प्रकाशित हुआ था। रामानंद रबींद्रनाथ के घनिष्ठ मित्र थे। सीतादेवी ने शांतिनिकेतन में *राजा* नाटक के हुए मंचन का वर्णन किया है। यह मंचन

[3] मराठी के प्रसिद्ध नाटककार मकरंद साठे का यूनानी दार्शनिक सुकरात के जीवनी पर लिखा नाटक ***सूर्य पाहिलेला माणूस*** (सूर्य देखा हुआ मनुष्य) प्रसिद्ध है. इस नाटक का प्रथम मंचन 24 जनवरी, 1999 को पुणे में हुआ था और उसमें सुकरात की प्रमुख भूमिका प्रसिद्ध अभिनेता डॉ. श्रीराम लागू ने निभाई थी.

शांतिनिकेतन के नाट्यघर में हुआ था। यह जगह केवल नाम भर के लिए नाट्यघर थी। छोटे से दीवालों वाली एक हॉलनुमा जगह थी, वहाँ स्टेज कोई नहीं था। बस थोड़ा ऊँचा-सा प्लैटफ़ॉर्म था और पीछे दीवाल पर एक परदे पर नटराज की नृत्य मुद्रा वाली प्रसिद्ध पेंटिंग लगी थी। दर्शक ज़मीन पर ही बैठे थे। रबींद्रनाथ परदे के पीछे से निर्देशन भी कर रहे थे। नाटक में ठाकुर दा की भूमिका करते हुए उन्होंने केसरिया रंग का पैर तक पहुँचने वाला चोंगा पहन रखा था। उनके गले में फूलों की माला थी। नाटक में सेनापति की भूमिका भी वेश बदल कर रबींद्रनाथ ने ही की थी। पर इन भूमिकाओं को करते हुए भी रबींद्रनाथ का व्यक्तित्व कोशिश करने से भी छिप नहीं रहा था। दर्शकों के बीच रबींद्रनाथ की एक कौतूहल मिश्रित पहचान बन रही थी। नाटक में अजितकुमार चक्रवर्ती ने रानी सुदर्शना की और उनके छोटे भाई ने दासी सुरंगमा की भूमिका निभाई थी। नाटक में कई गाने थे। नाटक ने दर्शकों के मन को अच्छी तरह से बाँधकर रखा था।

एक ग़ुलाम ज़ंजीरों से छूटकर गुफा के बाहर आता है और जब बाहर के उजाले में लपटों के नाते गुफा में पड़ने वाली वस्तुओं की परछाइयाँ देखता है तब उसे वस्तुएँ और उनकी परछाइयों के बीच का अंतर ज्ञात हो जाता है। शाश्वत ज्ञान तथा 'स्व' का रूप जानने के लिए प्लेटो के ग़ुलामों को गुफा के अज्ञानरूपी अंधकार से निकलकर गुफा के बाहर ज्ञानरूपी प्रकाश में आना पड़ता है। अंधकार में तो कुछ दिखता नहीं लेकिन उजाले में सब कुछ साफ़ दिखाई देता है, यह एक सामान्य अनुभव है। प्लेटो का रूपक इसी भेद पर आधारित है।

बंगाली में यह नाटक जनवरी 1911 में कलकत्ता के इंडियन पब्लिशिंग हाउस ने प्रकाशित किया था। वर्ष 1914 में इसे *द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर* नाम से मैकमिलन कंपनी ने लंदन से प्रकाशित किया था। इसी बीच 1920 में मंचन की दृष्टि से इस नाटक के आलेख की बनाई गई आवृत्ति *अरूप-रतन* नाम से प्रकाशित हुई। इस संस्करण में अदृश्य राजा के व्यक्तित्व को बहुत हद तक संक्षिप्त कर दिया गया था। इस नाटक का मंचन 15 सितंबर, 1924 को हुआ और उसमें रबींद्रनाथ ने सूत्रधार की भूमिका निभाई थी। रबींद्रनाथ ने इस नाटक का पुनर्लेखन फिर से एक बार, पूरे 15 वर्षों बाद, यानि 1935 में किया। *राजा* के मूल आलेख की दूसरी संशोधित आवृत्ति अप्रैल 1921 में प्रकाशित हुई। *अरूप-रतन* बनाते समय काट-छाँट दिए गए चरित्र रबींद्रनाथ ने फिर से समाविष्ट कर दिए थे। इसलिए *राजा* और *अरूप-रतन* इन दोनों का आलेख काफ़ी हद तक एक ही है इस पर अब सहमति बन चुकी है। इसी प्रतीक नाटक का रूपांतर रबींद्रनाथ ने 1931 में *शापमोचन* नामक नृत्य-नाटक में किया है। कालिदास के प्रसिद्ध नाटक *विक्रमोर्वशीयम्* में उर्वशी को तथा *पद्मपुराण* में अनिरुद्ध को मिले शाप और शाप–विमोचन की घटनाएँ इस नृत्य नाटक के पीछे प्रेरणा के रूप में हैं, ऐसा एक मत है।

राजा के मूल बंगाली आलेख के जितने अनुवाद और संस्करण हुए हैं उतने शायद ही किसी और दूसरे आलेखों के हुए होंगे। आज उपलब्ध होने वाले इस मूल आलेख की कई संपादित तथा अनूदित आवृत्तियों में इतने परिवर्तन दिखते हैं कि इस नाटक के किसी एक अधिकृत आलेख का निश्चय करना मुश्किल है। रबींद्रनाथ को 1913 में नोबेल पुरस्कार मिलने के बाद लंदन की प्रसिद्ध मैकमिलन कंपनी उनकी मुख्य प्रकाशक बनी। रबींद्रनाथ और उनके प्रकाशक का नाता कुछ ऐसा था जिसमें एक ओर तो रबींद्रनाथ की अव्यावसायिक और मनस्वी वृत्ति थी तो दूसरी ओर रबींद्रनाथ को नोबेल पुरस्कार मिलने की प्रसिद्धि के कारण उनके नाम के व्यावसायिक मूल्य का मैकमिलन कंपनी द्वारा किया जाने वाला उपयोग था। *राजा* नाटक का जो प्रकाशन द *किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर* नाम से हुआ उसकी कहानी तो विलक्षण ही है। श्यामल कुमार सरकार ने इस अनुवाद की कुल 6 हस्तलिखित और टंकित प्रतियाँ खोजकर यह दिखलाया है कि *राजा* नाटक के मूल बांग्ला आलेख के अंग्रेज़ी अनुवाद को लेकर कितनी असावधानी बरती गई है। जब रबींद्रनाथ इंग्लैंड में थे तभी केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले क्षितीशचंद्र सेन नामक एक छात्र ने 1912 के अक्टूबर महीने में परीक्षा की ऐन तैयारी के दौरान केवल सात दिनों में ही *राजा* का अनुवाद द *किंग* नाम से करके पूरा कर दिया था। पर इस काम में बहुत जल्दबाज़ी और असावधानी हुई थी। बांग्ला के जिन शब्दों का अनुवाद समझ में नहीं आया था उनके चारों ओर उसने केवल गोला बनाकर छोड़ रखा था। नाटक के अंतिम भाग की कई पंक्तियों को तो उसने बस छोड़ ही दिया था। केवल एक गीत रखकर बाक़ी सारे गीत उसने नाटक से हटा दिए थे। रबींद्रनाथ उस समय अमेरिका जाने की व्यस्तता में थे, इसलिए उनके पास इस अनुवाद को सुधारने का समय नहीं था। फिर भी उन्होंने पहले पाँच दृश्यों के अनुवादों में पात्रों के मुँह से एकवचन के संबोधनों के स्थान पर आदरार्थक संबोधन का प्रयोग कर दिया था, साथ ही नाटक में 12 नए गानों को फिर से डाल दिया था।

रबींद्रनाथ ने जिस अनुवाद को ठीक किया था उसकी दो टंकित प्रतियाँ तैयार हुईं। उसमें से एक प्रति रबींद्रनाथ ख़ुद अपने साथ अमेरिका लेकर गए और दूसरी प्रति उन्होंने अपने मित्र विलियम रॉथेंस्टाइन को इंग्लैंड में ही सुरक्षित रखने के लिए दी थी। अमेरिका में रहते हुए शिकागो से प्रकाशित होने वाली द *ड्रामा* नामक नियतकालिक पत्रिका में छपवाने के लिए रबींद्रनाथ ने जल्दी-जल्दी में अपने पास वाली प्रति में कुछ सुधार कर दिए। लेकिन यह काम भी आधा-तीहा ही हो सका था। सुधार करते हुए उन्होंने बड़े-बड़े परिच्छेदों को हटाकर नाटक के दृश्यों की संख्या 20 की जगह 19 कर दी थी। इंग्लैंड में रॉथेंस्टाइन के पास जो प्रति थी उसका वाचन वैसे तो साहित्यिक गोष्ठियों में हो ही रहा था। रॉथेंस्टाइन को यह नाटक पसंद आया था। आयरिश कवि डब्ल्यू. बी. येट्स को, जिन्हें बाद में 1923 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ और जिन्होंने रबींद्रनाथ की *गीतांजलि* और *डाक घर (द पोस्ट ऑफ़िस*) नाटक की प्रस्तावना लिखी थी, उन्हें और थॉमस मूर तथा जॉन मेंसफ़ील्ड जैसे ब्रिटिश कवियों

को यह नाटक अच्छा नहीं लगा था। इस कारण मैकमिलन कंपनी रबींद्रनाथ के इस नाटक को प्रकाशित करने के लिए बहुत अधिक उत्सुक नहीं थी। अक्टूबर 1913 में भारत लौटने के बाद रबींद्रनाथ ने इस नाटक पर फिर से काम शुरू किया। इसके पाँच दृश्यों को पूरी तरह से निकाल कर उनके महत्त्वपूर्ण अंशों को केवल दो दृश्यों तक सीमित कर दिया। इस नाते *राजा* अब केवल 14 दृश्यों का नाटक रह गया था।

इन सब के बीच उधर इंग्लैंड में कुछ अजीब ही हो रहा था। मैकमिलन कंपनी ने *द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर* को छाप कर उसकी प्रतियाँ भारत में रबींद्रनाथ को भेज भी दी थीं। यह जाने बिना कि रबींद्रनाथ ने न तो इसकी मुद्रित प्रति देखी है और न ही प्रूफ़ संशोधन किया है, रॉथेंस्टाइन ने तो रबींद्रनाथ को पुस्तक प्रकाशन के लिए अभिनंदन पत्र भी भिजवा दिया। रबींद्रनाथ के लिए यह एक बड़ा धक्का था। लेकिन उससे भी बड़ी धक्का देने वाली बात यह थी कि इसमें अनुवादक के रूप में रबींद्रनाथ का नाम प्रकाशित कर दिया गया था। यह सब होने का कारण यह था कि नोबेल मिलने के बाद रबींद्रनाथ का जो नाम हो गया था उसके चलते उनके लेखन को प्रकाशित करके पैसा कमाने की जल्दबाज़ी मैकमिलन कंपनी को थी। इसके चलते उन्होंने रॉथेंस्टाइन के पास रखी *राजा* के अनुवाद की प्रति प्राप्त की और उसमें कोई भी संपादकीय संशोधन किए बिना उसे छाप डाला। लेखन, व्याकरण, वर्तनी की ग़लतियाँ, छोड़ी गई पंक्तियाँ, इतना ही नहीं क्षितीशचंद्र सेन ने जिन शब्दों के चारों ओर जो गोले बना दिए थे उन सबको वैसे का वैसा ही मुद्रित कर दिया गया था। रबींद्रनाथ ने तुरंत रॉथेंस्टाइन को पत्र लिखा कि – 'आपके पास रख छोड़ी गई प्रति अंतिम नहीं थी। उसमें कई बदलाव हो गए हैं। सबसे प्रमुख बात तो यह कि यह अनुवाद

सुरंगमा:अवनींद्रनाथ टैगोर कृत जलरंग चित्र. (नैशनल गैलरी ऑफ़ मॉडर्न आर्ट, नई दिल्ली।)

राजा नाटक का जो प्रकाशन *द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर* नाम से हुआ उसकी कहानी तो विलक्षण ही है। श्यामल कुमार सरकार ने इस अनुवाद की कुल 6 हस्तलिखित और टंकित प्रतियाँ खोजकर यह दिखलाया है कि *राजा* नाटक के मूल बांग्ला आलेख के अंग्रेज़ी अनुवाद को लेकर कितनी असावधानी बरती गई है।

मैंने किया ही नहीं है'। यह लिखकर उन्होंने मैकमिलन कंपनी को भी उचित क़दम उठाने के लिए कहा। लेकिन मैकमिलन कंपनी ने बाद के किसी भी पुनर्मुद्रण में अनुवादक के रूप में रबींद्रनाथ के नाम को हटाने की तकलीफ़ तक नहीं उठाई। *द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर* की यह 1914 की मैकमिलन वाली प्रति 'लेखक के अधिकृत प्रकाशक के द्वारा उसी लेखक की अनधिकृत पांडुलिपि छापकर ज़िम्मेदारी से मुकरने का' शायद अकेला उदाहरण होगा, ऐसा कहा गया है।

राजा रबींद्रनाथ का प्रिय नाटक था। विलियम रॉथेंस्टाइन को 17 जून, 1913 को लिखे गए पत्र में रबींद्रनाथ ने लिखा है : 'इस नाटक के संदेश को मुझे आपके लोगों तक पहुँचाना है... यह नाटक मुझे भी समझ में नहीं आता है... बिलकुल मेरे अंदर से आए हुए अनुभवों से मानों मेरे बिना (आया हुआ है) ...इस नाटक पर मेरा प्रेम आत्मनिरपेक्ष है।'[4] नाटक तथा नाटककार की जीवन दृष्टि के बीच अटूट संबंध होता है। रबींद्रनाथ का यह नाटक भी उनकी जीवन दृष्टि की परिणति है। रबींद्रनाथ की दृष्टि में कला की यथार्थता बाह्य जगत के चित्रण पर आधारित न होकर मनुष्य के आंतरिक विश्व पर टिकी होती है। इसी कारण बाह्य जगत की वास्तविकता की अपेक्षा मनुष्य के आंतरिक विश्व की, उसकी आध्यात्मिकता की वास्तविकता ही सही अर्थों में वास्तविकता है, यह बात रबींद्रनाथ के नाटक में दिखाई जाती है। मनुष्य को प्रभावित करने वाली अन्य स्थितियों की ही तरह उसके आंतरिक संघर्ष में छिपा नाट्य भी उसे प्रभावित करता है। इसी कारण आपस में होने वाले बाहरी संघर्ष की अपेक्षा मनुष्य के अंतर्मन में होने वाला संघर्ष, भावनाओं का विक्षोभ और चेतना का उन्नयन इन्हीं सब को नाट्य विषय बनाना रबींद्रनाथ को अधिक महत्त्वपूर्ण लगता है। रबींद्रनाथ के नाटकों का यथार्थवाद रूढ़ अर्थ वाले यथार्थवाद के बिलकुल उलट है। उनका यथार्थवाद मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की सत्यता दिखाने वाला है। रबींद्रनाथ की इस अनोखी शैली के यथार्थवादी नाटकों में प्रतीकों की सहायता से अंतर्मन में होने वाले संघर्ष, भावनाओं के कोलाहल और चेतना के उन्नयन का विस्तार जिस तफ़सील के साथ दिखाया जाता है वह अधिक ग़ौरतलब है। यह विस्तार तथा ये सारे प्रतीक जैसे-जैसे अधिक गहरे और एक-दूसरे में गुँथते जाते हैं, वैसे ही रबींद्रनाथ के नाटकों का यथार्थवाद प्रखर होता जाता है। जो दिखता नहीं है, बस जिसकी अनुभूति होती है, ऐसे सत्य का ज्ञान हो पाए इसके लिए कलात्मक वातावरण की निर्मिति आवश्यक है। रबींद्रनाथ इसी की योजना करते हैं। इन गहन संकेतों के कारण रबींद्रनाथ के प्रतीकात्मक नाटक अमर हो गए हैं।

बाह्य रूप न होने के कारण इस नाटक का राजा दीखता नहीं है इसलिए वह अ-रूप (फ़ॉर्मलेस) है, लेकिन वह किसी रत्न की तरह आकर्षक और अनमोल भी है। *राजा* की *अरूप-रतन* नाम से हुई बांग्ला आवृत्ति का अंग्रेज़ी अनुवाद *फ़ॉर्मलेस जूएल* शीर्षक से हुआ है तो *राजा* का अंग्रेज़ी अनुवाद *द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर* शीर्षक से हुआ है। इस अनुवाद से

---

[4] आनंद लाल : 55.
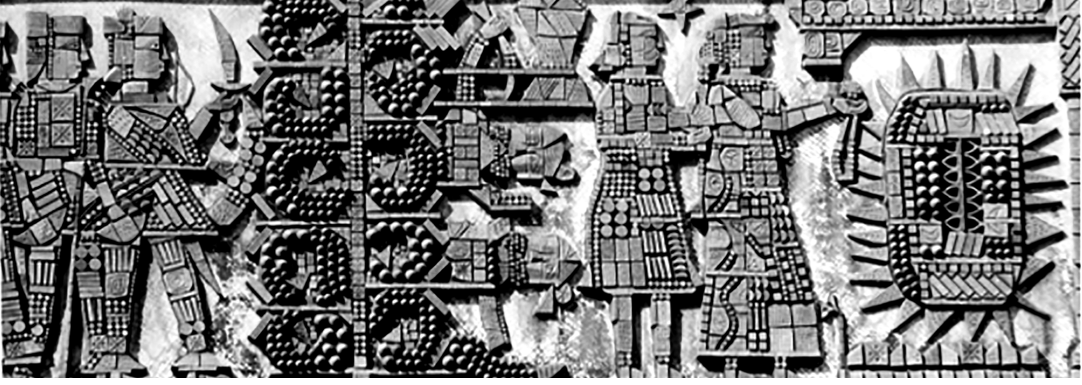
लखनऊ स्थित रबीन्द्रालय कला केंद्र में के.जी.सुब्रमणियन कृत भित्तिशिल्प *द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर (1963)*

'केवल अँधेरे में ही जिसका अस्तित्व रानी सुदर्शना को महसूस होता है लेकिन जो दिखाई नहीं देता' ऐसे राजा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यह अनुवाद स्वयं रबींद्रनाथ ने किया था। हिंदी में इसका अनुवाद *अँधेरे कमरे में राजा* या *अँधेरे कमरे का राजा* इस प्रकार किया जा सकेगा। कुछ लोगों का मानना है कि 'अदृश्य राजा' में रबींद्रनाथ के समय के उपनिवेशवाद का राजनैतिक संदर्भ भी है। इस नाटक के पात्रों का अर्थ कुछ लोगों ने इस राजनैतिक दिशा में भी लगाया है। लेकिन इस 'अ-रूप' तत्त्व की कल्पना भारतीय आध्यात्मिक तथा दार्शनिक परंपरा में पहले से ही की जाती रही है। रूप आँखों का विषय है लेकिन उसकी सत्ता अनित्य है। वह हमेशा नहीं रहता बल्कि जीर्ण होकर नष्ट हो जाता है। रूप मायावी भी होता है। इसी कारण अद्वैत वेदांतियों का मानना है कि अंतिम तत्त्व ब्रह्म अ-रूप तथा निराकार है। रबींद्रनाथ को अरूप-रतन की कल्पना बहुत प्यारी लगती है। एक कविता में वे कहते हैं– '*रूप सागरे डूब दिएछि अरूप-रतन आशा करि, घाटे घाटे घुरब न आर, भासिए आमार जीर्ण तरी*' —यानि 'अरूप-रतन की आशा में मैंने रूप-सागर में डुबकी लगा ली है, अब मैं अपनी जीर्ण नौका लेकर घाट-घाट नहीं भटकूँगा। अपनी पुरानी नाव अब मैं खेते चला जा रहा हूँ'। दिखाई पड़ने वाले संसार का नाम भी है और रूप भी। इस नाम-रूपधारी सागर में नाम-रूप विरहित रतन खोजने का पागलपन केवल रबींद्रनाथ जैसे समर्थ कवि और दार्शनिक को ही हो सकता है।

इंग्लैंड और अमेरिका में रबींद्रनाथ कवि के रूप में तो प्रसिद्ध थे ही, साथ ही *डाक घर*, *चित्रांगदा* (चित्रा), और *राजा* (*द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर*) इन नाटकों ने उन्हें यूरोप में एक नाटककार के रूप में भी प्रसिद्धि दिला दी। *डाकघर* का पहला मंचन आयरलैंड के डब्लिन में मई 1913 के एबे थिएटर में हुआ, तो *चित्रांगदा* का मंचन1915 में क्रोएशियन नैशनल थिएटर ज़ैग्रेब में। म्युनिख़ में यह मंचन 1916 में हुआ और चीन के बीजिंग में 1924 में। बीजिंग में हुए मंचन में रबींद्रनाथ ख़ुद उपस्थित थे। *राजा* नाटक का मंचन 1918 में मॉस्को आर्ट थिएटर की ओर से मॉस्को में हुआ। उसमें मैडम जेर्मेनोव्हा नामक अभिनेत्री ने रानी सुदर्शना की भूमिका की थी। ब्रिस्टल में 1920 में हुए मंचन को स्वयं रबींद्रनाथ ने पसंद किया था, यह

उन्होंने लिखा है। 26 मई, 1922 के *टाइम्स* में *चित्रांगदा* और *द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर* के दूसरे दिन होने वाले मंचन के बारे में इस शीर्षक से समाचार छपा था – 'फ्रांस में रबींद्रनाथ के पहली बार होने वाले नाटक'। रबींद्रनाथ के इस नाटक की तथा अन्य दूसरे नाटकों के मंचन की अनुकूल या प्रतिकूल समीक्षाएँ पश्चिमी मीडिया में अगर न आतीं तो ही आश्चर्य होता। कुछ समीक्षकों ने तो 'स्वप्निल और प्रतीकों का निश्चित अर्थ नहीं लगने वाला, कहकर इसका उपहास भी किया था तो वहीं *लाइफ़* नामक विश्वविख्यात मासिक पत्रिका की समीक्षा में 'भारत के एक प्रज्ञावान गृहस्थ का काव्यात्मक नाटक' इस तरह एक पंक्ति भी थी। समकालीन भारतीय निर्देशकों ने भी *राजा* नाटक के मंचन विविध भारतीय भाषाओं में कराए हैं। इनमें जसवंत ठाकर द्वारा गुजराती में निर्देशित बड़ौदा में 1955 में किया हुआ, कृष्ण शाह निर्देशित अमेरिका में 1961 में किया हुआ, शंभू मित्र निर्देशित बांग्ला में कोलकाता में 1964 में किया हुआ, रंग पणिक्कर निर्देशित मलयालम में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली द्वारा 1987 में किया हुआ, और रबींद्रनाथ की 150 वीं जन्म शताब्दी के अवसर पर रतन थियम निर्देशित असमिया में 2012 में किया हुआ मंचन विशेष उल्लेखनीय है।

नाटक के पात्र अंततः नाटककार के मन की ही बात करते हैं। *राजा* नाटक का आलेख तैयार करते हुए रबींद्रनाथ की मानसिक अवस्था कैसी थी, यह जानना दिलचस्प है। कृष्ण कृपलानी ने इस पर रोशनी डाली है। *राजा* नाटक को लिखने के पूर्व का समय रबींद्रनाथ के जीवन का अत्यंत दु:खद कालखंड था। 1902 से लेकर 1907 तक के केवल पाँच वर्षों की अल्पावधि में उनकी पत्नी मृणालिनी देवी, बेटी रेणुका, पिता महर्षि देवेंद्रनाथ और सबसे छोटा तेरह वर्ष का बेटा समींद्रनाथ, इन सबकी मृत्यु के आघात रबींद्रनाथ को सहने पड़े थे। बची हुए तीन संतानें भी उस समय उनके पास नहीं थीं। बंगाल के साहित्यिक समाज में भी उनके विरोधी कुछ कम नहीं थे। रबींद्रनाथ की बांग्ला का मज़ाक़ उड़ाने में वे कोई भी कमी नहीं छोड़ते थे। शांतिनिकेतन के उनके विद्यालय में अपने बच्चों को न डालें, ऐसा गुप्त निर्देश सरकारी मुलाज़िमों को दे दिया गया था। इस प्रकार के नकारात्मकता से भरे माहौल में प्रसिद्धि के उजाले और लोगों के घेरे में रहकर भी रबींद्रनाथ अंत में अकेले से पड़ गए थे। इन सब परिस्थितियों ने मानो उनको अपनी खोल में, अपने एकांत में यानि अपने 'स्व' की खोज की ओर ढकेल दिया था। 'स्व' की खोज का उनका यह कालखंड 1910 में *गोरा* उपन्यास तथा 1912 में *गीतांजलि* काव्यसंग्रह के प्रकाशन के केवल कुछ वर्षों पहले का है। इसे यदि हम ध्यान में रखें तो पाएँगे कि रबींद्रनाथ के उपन्यास तथा काव्य में भी 'स्व' की खोज दिखाई देती है। उन्हें लग रहा था कि असीम दु:ख और एकाकीपन की अवस्था में मिले जीवन के अत्यंत गहन गंभीर अनुभव और उनकी दी हुई दिव्यत्व की अनुभूति को नाटक का रूप दिया जाए।

रबींद्रनाथ के नाटक में 'ईश्वर' और 'सत्य' की संकल्पनाएँ केवल बौद्धिक रूप में नहीं हैं। रबींद्रनाथ का ईश्वर मजबूरी के नाते या किसी आवश्यकता के कारण स्वीकारा हुआ कोई

दिव्यगुण संपन्न व्यक्ति नहीं है। वैज्ञानिक लोग तो केवल उस सत्य को मान्यता देते हैं जो बुद्धिगम्य नियमों के अंतर्गत हो और व्यक्तिनिरपेक्ष तथा वस्तुनिष्ठ सत्य हो। लेकिन रबींद्रनाथ को मानवीयता से विरहित सत्य मान्य नहीं है। आइंस्टीन के साथ हुए 1930 के प्रसिद्ध संवाद में रबींद्रनाथ ने यही अवधारणा व्यक्त की है। ईश्वर और सत्य, जीवन के रहस्यों को सुलझाने के क्रम में अनुभूत होने वाले विषय हैं। इस जीवन-दर्शन में रबींद्रनाथ जैसे कवि को मनुष्यमात्र में दिव्यत्व का अंश और ईश्वर में मानवता का अंश प्रतिबिंबित होता दीखता है। क्या सत्य केवल 'सुंदर' और 'शिव' होता है या वह कुरूप और भयानक भी होता है? ईश्वर दुष्ट है अथवा दयालु? मित्र है या शत्रु? आत्मा का ईश्वर के साथ क्या संबंध है? सत्य को जैसा है – यथावस्थित – उसी रूप में स्वीकार करना होता है या उसे अपनी आँखों से देखना होता है? ये आध्यात्मिक प्रश्न रबींद्रनाथ के सामने आए हैं और इन प्रश्नों में निहित विमर्शों को रबींद्रनाथ ने *राजा* और *अरूप-रतन* नाटक में प्रस्तुत किया है।

निश्चय ही रबींद्रनाथ की सर्जनात्मक प्रतिभा तात्कालिकता से ऊपर उठकर चिरंतन की खोज करने वाली है। इसका कारण उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। केम्ब्रिज के प्रख्यात क्रांतिकारी दार्शनिक लुडविग विट्गेंस्टाइन इसीलिए उनसे प्रभावित हुए थे। 'धर्म, नीति, और सौंदर्य के बारे में हमारी जो श्रद्धा और मानसिक वृत्ति होती है उसे समझने के लिए भिन्न प्रकार के मानदंड की आवश्यकता होती है। अगर यह न मानें तो केवल विज्ञान की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाने के कारण उस श्रद्धा और उन मानसिक वृत्तियों को त्याज्य समझ लेने की प्रवृत्ति प्रबल होने लगती है' ऐसा विट्गेंस्टाइन का मानना है। वे जानते थे कि साहित्य में जीवन के मर्म का स्पर्श करने की और जीवन के आर-पार देखने की क्षमता होती है। इसी कारण रबींद्रनाथ की *गीतांजलि* उन्हें पसंद थी। 'जो साक्षात इंद्रियजन्य अनुभवों पर आधारित हों या जिनके माध्यम से ही गणितीय प्रमेय व्यक्त किए जा सकते हों ऐसे ही वाक्य सार्थक होते हैं, शेष सभी वाक्य निरर्थक होते हैं, ऐसा विज्ञानवादी दार्शनिकों का मानना है। ऐसे ही विज्ञानवादी दार्शनिकों की एक बैठक में विट्गेंस्टाइन ने श्रोताओं की ओर अपनी पीठ करके ऊँचे स्वर में *गीतांजलि* पढ़ी थी, ऐसा कहा जाता है। इस किंवदंती में से सनसनी का हिस्सा छोड़ भी दिया जाए तो

नाटक तथा नाटककार की जीवन दृष्टि के बीच अटूट संबंध होता है। रबींद्रनाथ का यह नाटक भी उनकी जीवन दृष्टि की परिणति है। रबींद्रनाथ की दृष्टि में कला की यथार्थता बाह्य जगत के चित्रण पर आधारित न होकर मनुष्य के आंतरिक विश्व पर टिकी होती है। इसी कारण बाह्य जगत की वास्तविकता की अपेक्षा मनुष्य के आंतरिक विश्व की, उसकी आध्यात्मिकता की वास्तविकता ही सही अर्थों में वास्तविकता है, यह बात रबींद्रनाथ के नाटक में दिखाई जाती है।

गीतांजलि की काव्यात्मक भाषा कितनी अधिक अर्थपूर्ण है, यही बात विट्गेंस्टाइन बताना चाहते थे। उन्होंने *राजा* का जर्मन अनुवाद 1921 में पढ़ा था। लगभग उसी समय रबींद्रनाथ जर्मनी और ऑस्ट्रिया के साहित्यिक वर्ग में ख़ूब प्रसिद्ध हो गए थे। पहली बार पढ़ते हुए विट्गेंस्टाइन को *राजा* नाटक अच्छा नहीं लगा था। उन्हें लगता था कि रबींद्रनाथ को जो अनुभूति हुई है वह उन लोगों की अनुभूति की तरह नहीं लगती जिन्हें सचमुच ही सत्य की प्राप्ति हुई हो। इसलिए रबींद्रनाथ का स्वर उन्हें सच्चा नहीं लग रहा था। उनकी अपेक्षा विट्गेंस्टाइन को नॉर्वे के नाटककार हेनरिक इब्सन अधिक सच्चे लगते थे। लेकिन उन्होंने यह भी स्वीकार किया था कि अनुवाद की मर्यादा के कारण संभवतः रबींद्रनाथ का आशय उन्हें ठीक से समझ में न आ रहा हो। इसके बारे में उन्होंने अपने विद्यार्थी पॉल एंगलमन को 1921 में लिखा भी था कि 'यह नाटक मन को बाँध नहीं पा रहा है'। लेकिन बाद में उनका यह अभिप्राय बदल भी गया था जैसा कि हैंसेल को लिखे गए पत्र में उन्होंने '[इस नाटक में] ...कुछ तो भव्य है' ऐसा कहा है। अनेक बार वे अपने मित्रों को यह नाटक पढ़ने के लिए देते थे। अपने विद्यार्थी यॉरिक स्मिथीज़ की मदद से *द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर* के दूसरे अंक के स्वयं किए हुए अंग्रेज़ी अनुवाद को वे अपने सौंदर्य शास्त्र के व्याख्यानों में पढ़कर दिखाते भी थे। *राजा* नाटक की मूल कल्पना उन्हें अपनी धार्मिक वृत्ति से मिलती-जुलती लगती थी, इसलिए उन्हें यह नाटक पसंद था।

विट्गेंस्टाइन की धारणा '*मैं धार्मिक व्यक्ति नहीं हूँ लेकिन किसी भी समस्या पर धार्मिक दृष्टिकोण से विचार किए बिना नहीं रह सकता*' प्रसिद्ध है। विट्गेंस्टाइन का मानना था कि अंग्रेज़ी के 'रिलीजन' शब्द से जिस तरह का धर्म अभिप्रेत है उस अर्थ में वे धार्मिक नहीं हैं। वे कर्मकांड नहीं करते। धर्म पर आधारित ख़ास तरह की श्रद्धा भी वे नहीं रखते फिर भी उनका दृष्टिकोण धार्मिक होता है। यह कैसा धार्मिक दृष्टिकोण अथवा कैसी धार्मिक वृत्ति है जो समाज में धर्म के प्रचलित अर्थ के साथ मेल नहीं खाती? इसके लक्षण क्या हैं? धर्म या धार्मिक इन शब्दों के प्रचलित अर्थ लिए बिना इस धार्मिक वृत्ति को कैसे समझा जाए? इन प्रश्नों के उत्तर *राजा* नाटक में सुदर्शना तथा सुरंगमा के संवादों से मिलते हैं। कभी दिखाई न पड़ने वाला राजा जब सुरंगमा के पिता को निर्वासित कर देता है तो सुरंगमा बहुत दुःखी हो जाती है। वह राजा से बहुत द्वेष करने लगती है लेकिन फिर भी उसके मन में राजा के प्रति अपार भक्ति भाव उत्पन्न होने लगता है। इससे रानी को आश्चर्य होता है। सुरंगमा कहती है कि 'यह भक्ति भाव मेरे मन में कब उत्पन्न हुआ, इसका मुझे भी पता नहीं चला। मैं इसका कारण भी नहीं बता सकती। एक दिन जब मेरे मन का विद्रोह दब गया और खलबली शांत हुई, उद्वेग चला गया तब मैं बड़ी सहजता से विनम्र होती गई। फिर तो अदृश्य राजा है कि नहीं इसका प्रमाण देने की या उसके प्रति मेरे मन में भक्ति भाव क्यों है, इसका कारण देने की भी मुझे आवश्यकता महसूस नहीं हुई।'

सुरंगमा की यह बात एक ओर श्रद्धा और ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयास करने

वाले ईश्वरवादी, और दूसरी ओर श्रद्धा और ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण माँगने वाले निरीश्वरवादी, इन दोनों का अतिक्रमण करती है। 'कार्य-कारण भाव पर आधारित वैज्ञानिक पद्धति को अनुभव तथा ज्ञान के सारे स्तरों पर एक ही प्रकार से लागू नहीं किया जा सकता' यह बात सुरंगमा ने सीधी-सादी भाषा में बता दी है। उसके मन का झंझावात जब शांत हो जाता है, उद्विग्नता चली जाती है तब बड़ी सहजता से उसका विनम्र हो जाना, राजा कुश सुंदर है या नहीं इस बात का रानी सुदर्शना के लिए कोई भी मतलब नहीं रहना, और सुदर्शना का राजा को यह कहना कि 'मेरे [हृदय] में बसा हुआ आपका प्रेम और उसमें दिखने वाली आपकी मूरत और मुझमें दिखने वाला आपका प्रतिबिंब – इन सबमें मेरा कुछ भी तो नहीं है, जो भी है वह सब आपका ही है, महाराज!'; – इन सब के द्वारा रबींद्रनाथ ने सुरंगमा और सुदर्शना के मन की अनन्य शरणागति की भावना दिखाई है। इस भावना से उत्पन्न शब्दातीत शरणागत मनोवृत्ति को ही विट्गेंस्टाइन धार्मिक वृत्ति कहते हैं। संत ज्ञानेश्वर ने इसी धार्मिक वृत्ति को – हे *विश्वाचे आर्त माझ्या मनी प्रकाशले। अवघेचि झाले देह ब्रह्म।* (परमात्मा की प्राप्ति न होने का वैश्विक दु:ख मेरे मन में प्रकट हो गया है, वस्तुमात्र ही मेरे लिए अब ब्रह्म हो गया है) इन शब्दों में व्यक्त किया है। इस वृत्ति में होने वाला विश्वास भाषा के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता, वह अनिर्वचनीय है। 'अदृश्य राजा के अस्तित्व पर विश्वास रखने वाली लेकिन भाषा की मर्यादाओं के कारण उसका वर्णन न कर पाने वाली' दासी सुरंगमा में विट्गेंस्टाइन को अपनी दार्शनिक मान्यता का प्रतिबिंब दिखाई पड़ा। इसलिए *राजा* नाटक उच्च कोटि की काव्य प्रतिभा और उदात्त कोटि की दार्शनिक क्षमता रखने वाले रबींद्रनाथ टैगोर और लुडविग विट्गेंस्टाइन जैसे दो महामानवों को जोड़ने वाली अद्भुत रचना है।

(यह प्रो. शरद देशपाण्डे द्वारा मराठी में लिखित 'राजा' आणि 'अरूप-रतन'; नाटक एक : संस्करणे अनेक!' लोकसत्ता (दीपावली 2020) *में प्रकाशित लेख का भाषांतर है। इस हिंदी अनुवाद में आचार्य गिरीश्वर मिश्र (पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय वि.वि.,वर्धा) और प्रो. हितेंद्र पटेल (रवींद्र भारती वि.वि., कोलकाता) द्वारा महत्त्वपूर्ण सुझाव मिले। अनुवादक उनका आभारी है।)*

संदर्भ

आनंद लाल (2001), *रवींद्रनाथ टैगोर : थ्री प्लेज़* (अनु.), सहित प्रस्तावना, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस.
कृष्ण कृपलानी (2012), *रवींद्रनाथ टैगोर : ए बायोग्राफ़ी*, यू.बी.एस.पी.डी. प्रकाशक, नई दिल्ली.
निर्मलकांति भट्टाचार्जी (2015), *रवींद्रनाथ टैगोर, द किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर,* नियोगी बुक्स, नई दिल्ली.
पॉल एंगलमन (1967), *लेटर्स फ्रॉम विटगेंस्टाइन*, बेसिल, ब्लॅकवेल.
मेरी लॅगो (1972), *इंपर्फेक्ट एन्काउंटर : लेटर्स ऑफ़ रोथेंस्टाइन ऐंड टैगोर 1911-1944*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.
रवींद्रनाथ टागोर, *रवीन्द्र रचनावली*, खंड 4, कविता क्रमांक 185, शासन प्रकाशन, पश्चिम बंगाल.
रे मंक (1991), *लुडविग विटगेंस्टाइन : द ड्यूटी ऑफ़ अ जिनियस,* विंटेज.
स.ही. वात्स्यायन, प्रफुल्लचंद्र ओझा, भारतभूषण अग्रवाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी (1962), (अनु.), *रवीन्द्रनाथ के*

नाटक द्वितीय खंड, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली.

सीता देवी (1964), *पुण्यस्मृति,* मैत्री, कलकत्ता.

श्यामल कुमार सरकार (1972), द *किंग ऑफ़ द डार्क चेंबर टेक्स्ट ऐंड पब्लिकेशन*, विश्व भारती क्वार्टरली न्यू सिरीज़ खंड 38.

शांति देव घोष (1986), *म्युज़िक ऐंड डान्स इन रबीन्द्रनाथ टैगोर्स एजुकेशन फिलॉसफ़ी,* संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली.